

सबके लिए शिक्षा की अवधारणा समावेशी समाज की नींव है, लेकिन इसे केवल शिक्षा के मौजूदा विचार और उसकी प्रणाली का विस्तार करके सम्भव नहीं किया जा सकता है। इसके लिए तो सोच में एक वृहत् बदलाव की आवश्यकता है। इसीलिए शिक्षा की वर्तमान प्रणाली में मान्यताओं, विचारधाराओं, अभ्यासों और संसाधनों के बारे में सोचना आवश्यक है और इस बात का आकलन करना चाहिए कि यह उपयुक्त है या इनमें मूलभूत परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

यात्रा एक सपने की

सबके लिए शिक्षा का विचार एक सपना है जिसमें राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को इसलिए शिक्षित किया जाना चाहिए क्योंकि शिक्षा का किसी व्यक्ति और देश के विकास में अगाध महत्त्व है। अनुकरण करने के लिए यह अपने आप में एक उदात्त आदर्श है और समाज को निरक्षरता से साक्षरता की ओर ले जाने के लिए एक बहुमूल्य उपकरण भी। यह बहिष्करण से लेकर समावेशन तक, असमानता से समानता तक, अन्याय से न्याय तक, संघर्ष से शान्ति तक सामाजिक परिवर्तन के लिए एक वाहन भी हो सकता है। इसलिए यह सपना बहुआयामी है जिसके साथ प्रभाव और कार्यान्वयन की विविध अपेक्षाएँ जुड़ी हैं। प्रारम्भ में हरेक को शिक्षित करने की इच्छाशक्ति की कमी थी, जिसकी वजह से शिक्षा केवल समाज के उच्च वर्गों तक सीमित रही। यह एक ऐसा समाज था जिसमें बहुस्तरीय वर्ग सम्बन्धी गम्भीर मतभेद थे और शायद बदलाव इसलिए नहीं हो पाया क्योंकि विचारशीलता, सामूहिक सामाजिक विवेक तथा बुनियादी ढाँचे की कमी थी या इन सभी की कमी थी।

आज़ादी के पहले पाँच दशकों तक शिक्षा अधिकांश लोगों तक नहीं पहुँची थी। यह दूरी केवल स्कूल भवन से भौतिक दूरी नहीं थी, बल्कि एक विश्वास प्रणाली और शैक्षिक प्राथमिकताओं की अनुपस्थिति थी। इसने समावेशी समाज की ओर बुनियादी क्रम उठाने के लिए शिक्षा की शक्ति को नज़रअन्दाज़ कर दिया था। कई क्षेत्रों में स्कूल ही नहीं थे और अगर कहीं बच्चे और स्कूल दोनों थे भी, तो उसमें सभी को शामिल करने का संकल्प नहीं था।

संविधान के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण (यूनिवर्सल एलीमेंट्री एजुकेशन — यूईई) के साथ चौदह वर्ष से कम उम्र के सभी बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा

का अधिदेश दिया गया था और बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में इस लक्ष्य को ध्यान में रखा गया था। लेकिन तीर निशाने पर लग नहीं पाए : राधाकृष्णन आयोग (1948-49) और मुदलियार आयोग (1952-53) ने क्रमशः विश्वविद्यालय और माध्यमिक शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित किया और केवल कोठारी आयोग (1964-66) ने प्राथमिक शिक्षा को शामिल करने के लिए अपने दायरे का विस्तार किया, हालाँकि सार्वभौमिकता अभी भी महत्त्वकांक्षी सोच बनी हुई थी।

एक सुगम मार्ग

फिर सबके लिए शिक्षा पर विश्व सम्मेलन (ईएफए, जोमिटिएन, थाईलैंड, मार्च 1990) और वर्ल्ड एजुकेशन फोरम (डेकार, सेनेगल, अप्रैल 2000) में भारत की ओर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ध्यान गया। बाहरी फंडिंग व निजी संगठनों के बीच तालमेल से निजी-सार्वजनिक भागीदारी हुई। 1994 में सरकार के ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी), 2000 में प्रमुख कार्यक्रम सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) और उसके बाद 2009 में शिक्षा का अधिकार अधिनियम की शुरुआत हुई।

पिछले तीन दशकों में, प्राथमिक स्तर पर स्कूलों, शिक्षकों और विद्यार्थियों की संख्या में तेज़ी-से वृद्धि हुई है। ऐसे कई समुदाय, जो ऐतिहासिक रूप से औपचारिक शिक्षा के क्षेत्र से बाहर थे, इसके अन्तर्गत आ गए। इनमें दूरदराज़ के स्थानों में या कठिन इलाकों में रहने वाले ऐसे आदिवासी और दलित समुदाय आते हैं जिन्हें सेवाएँ व सुविधाएँ नहीं मिल पातीं या पर्याप्त रूप से सेवाएँ नहीं मिल पातीं। इसमें बड़ी संख्या में लड़कियाँ भी शामिल हैं। इन सभी पहलों के कारण अभिभावकों के मन में आशा और आकांक्षाओं की लहर दौड़ गई क्योंकि इस अवधि के दौरान जिन बच्चों ने स्कूल में प्रवेश लिया, उनके अभिभावक या तो कभी स्कूल नहीं गए थे या प्राथमिक कक्षाओं से आगे की शिक्षा नहीं पा सके थे।

सबके लिए शिक्षा : एक प्रकाश स्तम्भ

नब्बे के दशक में शुरू हुए डीपीईपी की उपलब्धियाँ असाधारण रही हैं। सबके लिए शिक्षा के विचार ने समान अवसरों का निर्माण करके हमारे समाज को बदल दिया है और वर्तमान समय में भी निराशा, दुख, असमानता और गरीबी से घिरे कई लोगों में उत्साह, आत्मविश्वास, विचार और ज्ञान का

संचार किया है। आज, समुदायों के अनेक बच्चे और उनके अभिभावक अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक पृष्ठभूमि के बावजूद शिक्षा से लाभान्वित हुए हैं। और हालाँकि भारत में शिक्षा या विद्या का विचार नया नहीं है, फिर भी सबके लिए शिक्षा का विचार अपेक्षाकृत नया है। सामाजिक परिवर्तन के लिए मौन मंथन हुआ है। यह दीर्घ काल से संजोए हुए सपने को साकार करने का मौक़ा रहा है।

सरोकार : रुकावटें

यद्यपि वर्तमान समय में समावेशन के दृष्टिकोण को ध्यान में रखा गया है, लेकिन हमें खुद से पूछना होगा कि क्या हम सबके लिए शिक्षा के इस विस्तारित विचार के साथ समावेशी समाज को देखने, स्वीकार करने और उसकी ओर क़दम बढ़ाने के लिए तैयार हैं? क्या हम सामूहिक रूप से अधिक न्यायसंगत और न्यायपूर्ण विश्व की इच्छा रखते हैं?

दोनों का जवाब नहीं है। जोमिटिएन सम्मेलन (1990) के बाद 1997 में हुई डेकार घोषणा ने एक अत्यावश्यक जनादेश तैयार किया और वित्तीय संसाधनों को उपलब्ध कराया ताकि राष्ट्र सबके लिए शिक्षा को अपना सके। इसके परिणामस्वरूप एक प्रमुख कार्यक्रम एसएसए का शुभारम्भ हुआ। नए स्कूल खुले, नए विद्यार्थियों का नामांकन हुआ और नए शिक्षकों की भर्ती हुई।

लेकिन शिक्षक की तैयारी और अकादमिक समर्थन के लिए नई संरचनाओं को सुधारना और बनाना एक ऐसा महत्त्वपूर्ण पहलू था, और अभी भी है जिस पर लम्बे समय से ध्यान नहीं दिया गया है। इसके कारण अपर्याप्त या पूरी तरह से अनुपस्थित शैक्षिक समर्थन प्रणालियों के साथ ही बिना तैयार किए/अप्रशिक्षित शिक्षकों की भर्ती हुई। इस बात की समझ भी सीमित ही थी कि स्कूलों में आई विद्यार्थियों की इस बाढ़ से कैसे निपटा जाए, जिनमें से कई विद्यार्थी अपने परिवार में पहली पीढ़ी के शिक्षार्थी थे। बच्चे स्कूल की भाषा और संस्कृति को समझने में असमर्थ थे और शिक्षक यह नहीं समझ पा रहे थे कि बच्चों के मिश्रित और बड़े समूह की भाषा या संस्कृति से कैसे निपटा जाए। देश के दूरदराज़ के हिस्सों के सरकारी स्कूलों में नियुक्त अधिकांश शिक्षकों के सामने यह चुनौती थी कि वे अपने से अलग समुदायों में कैसे रहें या इतनी दूर स्थित स्कूलों में कैसे आएँ-जाएँ। अप्रशिक्षित और कम वेतन पाने वाले शिक्षक सबसे ज़्यादा ज़रूरतमन्द तथा वंचित बच्चों की शिक्षा का ध्यान रख रहे थे। इन सारे मुद्दों की सही समझ न होने के कारण एक ग़ैर-निष्पादित सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली, ठीक से न सीखने वाले बच्चों, वियोजित समुदायों और हतोत्साहित शिक्षकों का निर्माण हुआ।

मूल्यांकन करने का समय

इसे कैसे सुधारा जा सकता है? क्या मौजूदा समझ, सरोकारों, संरचनाओं, भावनाओं और रणनीतियों के साथ सबके लिए शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करना सम्भव है या इसके लिए नई समझ, नए सरोकारों व भावुकताओं के साथ नई रणनीतियों, संरचनाओं और मानदण्डों की आवश्यकता है?

बड़े बदलावों का मतलब है कई सारे छोटे बदलाव।

पहला परिवर्तन था विभिन्न समुदायों और लिंग के अ-पंजीकृत बच्चों का सरकारी स्कूल में प्रवेश, साथ ही विशेषाधिकार प्राप्त लोगों का इन स्कूलों से अलगाव। वे निजी स्कूलों में चले गए थे। नतीजतन, सरकारी स्कूल उन बेहद ग़रीब पृष्ठभूमि वालों के स्कूल बन गए जिनके पास कोई दूसरा विकल्प नहीं था।

दूसरा परिवर्तन था सरकारी शिक्षा प्रणाली से जुड़ने के लिए ग़ैर-सरकारी संगठनों के लिए स्थान बनना। ग़ैर-सरकारी संगठनों ने स्थानीय, राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर स्कूलों और सचिवालय में अलग-अलग भूमिकाएँ निभानी शुरू कर दीं। टीच फॉर इंडिया (टीएफआई), कैवल्य एजुकेशन फाउण्डेशन, अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन और कई अन्य संगठनों के योगदानों ने ज़मीनी स्तर पर प्रभाव दिखाना शुरू कर दिया। अब इस क्षेत्र में अधिक लोग और समूह शामिल हैं जो विमर्श के लिए विभिन्न प्रकार के विचारों को सामने ला रहे हैं।

इन सभी घटनाक्रमों का सकारात्मक पक्ष यह है कि जो लोग छूट गए थे, वे हमारे समय के सबसे महत्त्वपूर्ण जीवन कौशल यानी पढ़ना और लिखना सीखने के दायरे में आ गए। कई विद्वान और सामाजिक रूप से जागरूक लोग गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने की ज़िम्मेदारी साझा करने लगे। बच्चों के प्रारम्भिक वर्षों के स्वास्थ्य, पोषण और सामाजिक नींव को बेहतर बनाने के लिए प्रारम्भिक बाल्यावस्था देखभाल और शिक्षा (अर्ली चाइल्डहुड एजुकेशन — ईसीई) का बहुत समर्थन हुआ। वैसे कहानी का दूसरा पक्ष यह है कि इसके बारे में आधी-अधूरी प्रतिबद्धताएँ और राजनीतिक इच्छाएँ थीं; समाज का बड़ा हिस्सा इसे लेकर पूर्ण रूप से उदासीन था, और; ज़रूरतों और माँगों को समझने के लिए शैक्षिक अनुसन्धान और नवाचार भी नहीं थे। इसलिए, अधिगम के परिणामों और बच्चों के अधिगम सम्बन्धी अनुभवों पर पड़ने वाला तात्कालिक प्रभाव और असर उत्साहजनक नहीं रहा है। सकारात्मक पक्ष के पहले विवरण से आशा जगती है और वह व्यापक निराशा से लड़ने में मदद करती है, लेकिन दूसरा विवरण जाने-अनजाने पहले से ही हताश समाज में और अधिक निराशा फैलाता है।

मेरी समझ और परिप्रेक्ष्य के अनुसार, सबके लिए शिक्षा का सुझाव एक नई और चुनौतीपूर्ण सामाजिक अवधारणा है। मौजूदा मानकों के माध्यम से इस नए सन्दर्भ का मूल्यांकन केवल स्थिति में निहित समस्याओं को बाहर लाता है, जिसके परिणामस्वरूप अपूर्ण और गलत चित्रण सामने आता है। यह बात शिक्षा के प्रयासों में लगे लोगों को और निराश कर सकती है। इसलिए, इस विशाल परियोजना के लिए नए मानकों को खोजने के लिए एक नए दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

बदलते हुए सन्दर्भों को समझना

हमारा देश न केवल तरह-तरह की विविधताओं से भरा है, बल्कि तरह-तरह की असमानताओं से भी भरा है। सबसे पहले तो बच्चे, शिक्षक और शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले अन्य लोग एक ऐसे समाज से सम्बन्ध रखते हैं जो परम्परागत रूप से पितृसत्तात्मक और सामन्तवादी हैं। दूसरे, स्कूल भी इन्हीं और ऐसी ही कई अन्य सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक असमानताओं के बीच में कार्य करते हैं। तीसरा आयाम यह है कि यदि शिक्षा को सामाजिक-राजनीतिक समानता, आपसी भाईचारे या सहृदयता से अलग करके देखा जाए तो वह अपना अर्थ खो बैठेगी।

आइए इस मुद्दे को कुछ घटनाओं के आलोक में देखें। मध्य भारत के एक जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (डायट) के प्राचार्य निरीक्षण के लिए अपने इलाके के एक स्कूल में पहुँचे। उपस्थिति रजिस्टर को देखते समय उन्होंने महसूस किया कि कुछ बच्चों के नाम अटपटे थे। प्राचार्य ने शिक्षक से इस विषय पर चर्चा की। शिक्षक ने कहा, “सर, मैं क्या कर सकता हूँ? उनके अनपढ़ माता-पिता ने उनका नाम इसी तरह से रखा है।”

प्राचार्य ने बच्चों को अपने माता-पिता को बुलाने के लिए घर भेजा। स्कूल गाँव के बगल में ही था जहाँ ज्यादातर लोग ‘बहेलिया’ समुदाय के थे। वे पक्षियों को पकड़ने का अपना काम सुबह या शाम को किया करते थे, इसलिए वे शीघ्र ही स्कूल आ पहुँचे। फिर प्राचार्य ने बच्चों के नाम को अधिक साफ़-सुथरे या ‘सभ्य’ रूपों में बदलना शुरू किया, उदाहरण के लिए, चिन्ता बाई का नाम बदलकर चेतना कुमारी कर दिया गया, कल्लीबाई को कलावती में बदल दिया गया। पता नहीं यह बात माता-पिता को पसन्द आई या नहीं पर उन्होंने कोई आपत्ति नहीं जताई। उन्होंने शायद इसे अपने बच्चों के लिए शिक्षा प्राप्त करने की शर्त के रूप में स्वीकार कर लिया था।

चिन्ता बाई और कल्ली के नाम बदलने से कुछ महत्वपूर्ण सवाल खड़े होते हैं :

- अगर स्कूल इन बच्चों के नामों को जगह नहीं देता तो क्या उनके जीवन के अनुभवों को जगह देगा?

- क्या शिक्षा केवल समाज के उस वर्ग के लिए है जिसका प्रतिनिधित्व चेतना कुमारियों और कलावतियों द्वारा किया जाता है?
- क्या किसी विशेष समुदाय को शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपनी सांस्कृतिक पहचान को त्यागना होगा?

अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

स्कूलों में उन बच्चों की तारीफ़ करना एक आम बात है जो सबसे साफ़ कपड़े पहनते हैं और उन लोगों को दण्डित किया जाता है जिनके कपड़े गन्दे होते हैं। इसे ध्यान से देखने पर हमारा ध्यान उस भावनात्मक क्षति की ओर आकर्षित होगा जो ऐसी घटनाओं के कारण बच्चों को हो सकती है। भाषा भी एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। इसका मानक रूप, उपयुक्त उच्चारण आदि पहली पीढ़ी के स्कूल जाने वाले बच्चों के लिए पहचान का संकट पैदा करते हैं। जिसने भी इसका अनुभव किया है वह जानता है कि यह सब कितना अपमानजनक होता है और व्यक्ति के आत्मविश्वास को हिला सकता है। इन मामलों से जुड़ते बच्चों को शिक्षक अक्सर ‘यह नहीं सीख सकते’ की श्रेणी में रख देते हैं।

यह सभी उदाहरण शिक्षा के बारे में समझ और संवेदनशीलता पर सवाल उठाते हैं। कुछ बड़े सवाल इस प्रकार हैं :

- क्या बच्चों को एक साँचे में फिट हो जाना चाहिए या शैक्षिक प्रणालियों को उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों के अनुसार बदलने के लिए पर्याप्त लचीला होना चाहिए?
- हम इस बात को कैसे स्थापित करें कि बच्चों के मौजूदा ज्ञान और स्कूल में ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया के बीच की अन्तःक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है?
- इस तरह की समझ शैक्षिक प्रक्रिया का हिस्सा कैसे बन सकती है?

आइए, अब हम शिक्षकों की तैयारी और स्वायत्तता पर एक नज़र डालते हैं। इस सन्दर्भ में, मुझे अपने शिक्षण के दिनों की एक घटना याद आ रही है जो हमें विचार करने पर मजबूर कर देती है। एक दिन मेरी कक्षा के बच्चे गुन्दीलाल नामक एक बच्चे की लगातार शिकायत कर रहे थे। मैंने बच्चों को कुछ काम दिया था और मैं अपने कामों को पूरा करने में व्यस्त था, इसलिए मेरा पूरा ध्यान क्लास पर नहीं था। जब शिकायतों को नज़र अन्दाज़ करना मुश्किल हो गया तो मैंने गुन्दीलाल को बुलाया और सख्ती से उससे कहा, “तुम बहुत शरारत कर रहे हो! कान पकड़ो।”

गुन्दीलाल ने कोई जवाब नहीं दिया, तो मैंने फिर से ऊँचे स्वर में अपनी बात दोहराई। इस बार, उसने आगे आकर मेरे कान

पकड़ लिए। उसकी इस हरकत पर पहले तो मुझे आश्चर्य हुआ और गुस्सा भी आया लेकिन फिर मुझे महसूस हुआ कि मैंने तो केवल कान पकड़ने का निर्देश दिया था। इसलिए गलती गुन्दीलाल की नहीं थी। उसने 'कान पकड़ने' की बात को सजा के साथ नहीं जोड़ा था और न ही उसे इस तरह के व्यवहार का कोई पिछला अनुभव था।

ऐसी बहुत-सी चीजें हैं जिनके बारे में हम यह मानकर चलते हैं कि सभी बच्चे उनके बारे में जानते हैं, पर हम यह भूल जाते हैं कि स्कूल का माहौल और वहाँ के तौर-तरीके स्कूल जाने वालों की पहली पीढ़ी के लिए नए हैं। यह उन्हें न केवल अजीब बल्कि सहज ज्ञान के विपरीत भी लग सकते हैं।

मेरी यात्रा...

मध्य प्रदेश के रायसेन ज़िले में जंगल के बीच स्थित एक आदिवासी गाँव में काम करने के अनुभव ने मुझे बहुत-सी बातें सिखाईं। लेकिन जिस बात का उल्लेख मैं यहाँ करना चाहता हूँ, वह इस लेख के केन्द्रीय विचार यानी सबके लिए शिक्षा से सीधे तौर पर सम्बन्धित है।

मैंने गोंड आदिवासी समुदाय के बच्चों को पढ़ाना शुरू किया। मुझे जल्द ही पता चल गया कि जिन्होंने सदियों से अपना समय बकरियों को चराने, खेतों में पक्षियों को उड़ाने, तेंदू पत्ते या महुआ इकट्ठा करने, मूसरी खोदने, पेड़ों पर चढ़ने और नदियों में तैरने में बिताया है, उन्हें चार-पाँच घण्टों तक स्कूल में एक जगह पर बैठाना अपने आप में एक बड़ी चुनौती होगी। इन बच्चों को एक दिन में कई किलोमीटर पैदल चलने और शारीरिक श्रम करने की आदत थी।

इतने लम्बे समय तक एक जगह पर बैठना उनके लिए कैसे सम्भव होगा? ऐसे में मैं उनमें पढ़ने और लिखने की क्षमता कैसे विकसित करूँगा? उन लोगों के लिए रविवार की छुट्टी का भला क्या महत्त्व था जिनका साप्ताहिक बाज़ार मंगलवार को लगा करता था? जब फ़सल बोने या काटने का समय आता था तो छोटे किसानों के घरों के बच्चों की भूमिका कैसे बदल सकती थी? इस तरह के सन्दर्भों का स्कूल के प्रशासन के साथ क्या सम्बन्ध था? अलग-अलग स्तरों पर स्कूलों के साथ काम करने वाले सभी लोगों के सामने यह सवाल आने चाहिए। यह सवाल हमें स्कूल को एक अलग नज़रिए से देखने को बाध्य करते हैं। हम स्कूल की इन मौजूदा मान्यताओं से हटकर सोच पाते हैं कि स्कूल एक निर्दिष्ट स्थान है जिसमें एक दिन को 45 मिनट की अवधि के कालखण्डों की एक समय सारिणी में विभाजित किया जाता है। बच्चों के एक अलग शारीरिक और सांस्कृतिक उन्मुखीकरण के लिए पूरी शिक्षा प्रणाली के पुनर्गठन की आवश्यकता है, जिसमें उनकी आदतों और

रुचियों को ध्यान में रखा जाए और शिक्षकों को स्वायत्तता दी जाए।

जब मैं एक शिक्षक के रूप में काम करता था, तब परिस्थितियाँ मेरे लिए कुछ अनुकूल थीं। जैसे कि वह स्कूल सरकारी स्कूल नहीं था और उसे सरकारी पंजीकरण की आवश्यकता भी नहीं थी। साथ ही, गाँव के लोगों के अनुभव या आकांक्षाओं में शिक्षा की कोई निश्चित धारणा नहीं थी। इन दोनों बातों ने मुझे बच्चों के हितों और सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए नए विचारों के साथ प्रयोग करने के लिए आवश्यक लचीलापन प्रदान किया। मैंने एक शिक्षक के रूप में, अचानक प्राप्त इस स्वायत्तता का पूरी तरह से उपयोग किया। इसके परिणाम अपेक्षाओं से बेहतर निकले। अधिकांश बच्चों ने साक्षरता की दुनिया में बहुत रुचि के साथ प्रवेश किया और उनमें से लगभग आधे बच्चों ने स्कूल के आगे भी अपनी शिक्षा जारी रखी। उन्होंने, अपने गाँव और आस-पास के अन्य गाँवों के बच्चों की तुलना में, शिक्षा में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल कीं। इन बच्चों के पास अपना आत्मविश्वास या सांस्कृतिक पहचान खोने का कोई कारण नहीं था।

सबके लिए शिक्षा — आगे का मार्ग

एक सकारात्मक कथ्य के निर्माण और मूल विचार के आस-पास की नकारात्मक धारणाओं का मुक्काबला किए बिना कोई भी परिवर्तनकारी सामाजिक परिवर्तन नहीं हो पाया है। प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर (और प्रारम्भिक स्तर तक कुछ स्तरों पर) सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली एक ऐसी जगह बन गई है जो आवाज़हीन या विकल्पहीन समुदायों के बच्चों की सेवा करती है। कुलीन और मध्यम वर्ग के बच्चों का सरकारी प्रणाली से निजी स्कूलों में जाना एक तरह से स्कूल और प्रणाली दोनों से दूर चले जाना है। इससे सरकारी शिक्षा प्रणाली की प्रतिकूल आलोचना हुई है— बिना इस बात पर ध्यान दिए कि जो बच्चे सरकारी स्कूलों में हैं उनके अभिभावक व शिक्षक समुदाय के साथ-साथ स्वयं सरकार इससे किस प्रकार प्रभावित होगी। इस तरह से सार्वजनिक स्कूली शिक्षा से निजी स्कूली शिक्षा में जाना निराशावाद को जन्म देता है और समाज के बीच की खाई को बढ़ाता है।

जब कोई बच्चा स्कूल की दहलीज़ पार करता है तो वह अपने साथ न केवल अपना बस्ता, स्लेट व चॉक, किताबें और नोटबुक लेकर आता है, बल्कि अपनी पूरी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी साथ लाता है : उसका भरा हुआ या खाली पेट, उसकी जिज्ञासाएँ, उसके डर, संकोच, मातृभाषा और अन्य पहलू भी उसके साथ चले आते हैं। और अगर यह बच्चा एक ऐसे परिवार से आता है जिसका शिक्षा की संरचना

के साथ पहले कोई सम्बन्ध नहीं रहा है तो स्कूल और शिक्षकों के लिए जरूरी हो जाता है कि वे और भी अधिक लचीले बनें। यदि शिक्षक या विद्यालय द्वारा की गई माँगें सख्त हैं और यदि वे बच्चे की जरूरतों के अनुसार झुकने को तैयार नहीं हैं, तो इसका केवल एक परिणाम होता है— विफलता। और इस परिणाम को समाज द्वारा बच्चे की विफलता के रूप में देखा जाता है। गुन्दीलाल, चिन्ताबाई और कल्ली जैसे पहले से ही वंचित बच्चों के स्कूल में सफल होने के लिए उन अवसरों का निर्माण करने की आवश्यकता होगी, जिनमें उनकी संस्कृति, अनुभव और प्रतिभाओं को सम्मानपूर्वक शामिल किया जाए। स्कूल में जो कुछ भी होता है, उसे इन बच्चों की जरूरतों और पृष्ठभूमि की परीक्षा में सफल होना पड़ेगा।

सबके लिए शिक्षा के इस कार्य में शामिल होने वाले लोगों की एक लम्बी सूची है— मंत्रियों से लेकर अधिकारियों, शिक्षाविदों और शिक्षकों तक। स्वैच्छिक संगठनों के लोग भी अब इस सूची में शामिल हो गए हैं। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण भूमिका शिक्षक की है। शिक्षकों के लिए विचार, संसाधन, स्वायत्तता और सम्मान सुनिश्चित करना मुख्य रूप से सरकारी शिक्षा संरचना की ज़िम्मेदारी है। इसमें नीति निर्माता, प्रशासक और प्रशिक्षण संस्थान शामिल हैं। वर्तमान समय में शिक्षकों और शिक्षा की स्थिति के बारे में सवाल उठाने से पहले हमें यह सवाल पूछना चाहिए : क्या शिक्षकों के लिए सबके लिए

शिक्षा जैसे कार्य के लिए उचित और पर्याप्त समझ, संसाधन और सम्मान उपलब्ध है? मेरा तो यह विचार है कि शिक्षक को सबके लिए शिक्षा के सन्दर्भ में जिस तरह की तैयारी की जरूरत है, वह सरकार या समाज द्वारा प्रदान नहीं की जा रही है, हालाँकि यह स्पष्ट नहीं है कि इसका कारण इच्छाशक्ति की कमी है या संसाधनों की कमी है। यदि हाथ में लिया हुआ काम चुनौतीपूर्ण और नया है और इसे प्राप्त करने की तैयारी अधूरी है तो भला बड़े पैमाने पर सकारात्मक परिणामों की उम्मीद कैसे की जा सकती है? यदि हम सबके लिए शिक्षा को समावेशी समाज की दिशा में एक मूलभूत कदम मानते हैं; तो फिर इससे उभरने वाले सरोकार भाषा, गणित और अन्य विषयों के पारम्परिक शिक्षण और आकलन के सन्दर्भ में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के हमारे सरोकारों तक कैसे सीमित रह सकते हैं? हमें शिक्षा से समाज की अपेक्षाओं को फिर से परिभाषित करना होगा तथा पाठ्यक्रम और शिक्षक की तैयारी को एक नए परिप्रेक्ष्य में देखना होगा।

इस वक़्त एक ऐसी साझा समझ विकसित करने की बहुत आवश्यकता है जो एक ओर सामूहिक चेतना में सबके लिए शिक्षा को बेहतर समाज के निर्माण के केन्द्र में रखे, उन लोगों को प्रेरित करे जो इस सामाजिक परियोजना के लिए काम कर रहे हैं और दूसरी ओर यह इस परियोजना के पथप्रदर्शक शिक्षकों का सम्मान व समर्थन करे और उनका स्वागत करे।



अनन्त गंगोला ने मध्य प्रदेश के नीलगढ़ गाँव में रहते हुए, कई वर्षों तक आदिवासी बच्चों के लिए एक वैकल्पिक शिक्षा बनाने की दिशा में काम किया। इस दौरान उन्हें आदिवासी लोगों के जीवन और परिवेश का गहराई से अध्ययन करने और उसे समझने का अवसर मिला। बाद में वे जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी) में जिला समन्वयक रहे। पिछले पन्द्रह वर्षों से वे अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन के साथ हैं और उन्हें ज़मीनी स्तर के साथ-साथ जिला और राज्य स्तर पर काम करने का अनुभव है। उनसे anantgangola.ag@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद : नलिनी रावल